अद्वैत वेदांत में निहित दार्शनिक तत्व : एक विशद विवेचन

डॉ. मुन्ना लाल चौहान [1]

[1] **अतिथि सहायक आचार्य -संस्कृत, राजसेस सोसाइटी अधीन -विद्या सम्बल योजना के अंतर्गत- राजकीय महाविद्यालय, देसूरी जिला -पाली, राजस्थान -306703**

ABSTRACT:

महामना शंकराचार्य अलौकिक प्रतिभासम्पन्न, विद्वता की प्रतिमूर्ति, तर्कपटुता, दार्शनिकसूक्ष्मदृष्टि, रहस्यवादी आध्यात्मिकता, कवित्वशक्ति, धार्मिक पवित्रता, कर्तव्यनिष्ठा तथा सर्वातिशायी विवेक और वैराग्य की अद्भुत ज्येष्ठ रूप थे। ज्ञान के प्राधान्य का साग्रह प्रतिपादन करने वाले और कर्म को अविद्याजन्य मानने वाले संन्यासी आचार्य का समस्त जीवन लोकसंग्रहार्थ निष्काम कर्म को समर्पित था। उन्होंने भारतवर्ष का भ्रमण करके हिन्दू समाज को एकसूत्र में पिरोने के लिए उत्तर में बदरीनाथ, दक्षिण में शृंगेरी, पूर्व में पुरी तथा पश्चिम में द्वारका इन चार पीठों की स्थापना की। इन्होंने बत्तीस वर्ष की स्वल्पायु में अपने सुप्रसिद्ध ब्रह्मसूत्रभाष्य के अतिरिक्त ग्यारह उपनिषदों , गीता पर भाष्यों की रचना की एवं अन्य ग्रंथ व अनुपम स्तोत्र – साहित्य का निर्माण किया तथा वैदिक धर्म एवं दर्शन के समुद्धार, प्रतिष्ठा और प्रचार के दुःसाध्य कार्य को करते हुए भारत में अपने धर्म और दर्शन की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए, प्रतिपक्षियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित करते हुए संपूर्ण भारतवर्ष में दिग्भ्रमण किया। उनके अद्वितीय कर्मपथ पर चलने के कारण ही लोक में उन्हें भगवान शंकर का अवतार कहा गया। उन्होंने विश्व के सर्वोच्च दार्शनिक के रूप में अद्वैत वेदांत की पावन विचारधारा को विश्व में प्रवाहित किया और अद्वैत वेदांत के माध्यम से विभिन्न दार्शनिक तत्वों की सम्यक व्याख्या समाज और विद्वत वर्ग के समक्ष प्रस्तुत की। उन्होंने अपने दर्शन के माध्यम से समस्त दार्शनिक तत्वों की सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत की। उनके दार्शनिक मंतव्य को संपूर्ण विश्व में सराहा है ।

KEYWORDS:

आलेख प्रस्तुति

अद्वैत वेदान्त दर्शन भारतीय आध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। अब तक वर्णित दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा तार्किक विचारों का उत्कर्ष अद्वैत वेदान्त में उपलब्ध होता है। अद्वैत का तात्पर्य है- 'दो नहीं' वरन् एक से है अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा अथवा परमात्मा और जगत् भिन्न न होकर अभिन्न हैं। जितनी भी सर्वत्र विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, सब माया के कारण है जो मोक्ष के द्वारा ब्रह्म में लीन हो जाता है। वेदान्त का मूल उपनिषद् है। श्रुति के चरम सिद्धांत के अर्थ में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सबसे पहले उपलब्ध होता है। उपनिषदों को भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अंत कहा जा सकता है। उपनिषद् वैदिक युग के अंतिम साहित्य हैं। वैदिक काल में तीन प्रकार का साहित्य देखने में आता है। पहला वैदिक मंत्र जो भिन्न-भिन्न संहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) में संकलित है। दूसरा जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना है और तीसरा उपनिषद् जिसमें दार्शनिक तथ्यों की आलोचना है। ये तीनों मिलकर श्रुति या वेद कहलाते हैं।

सृष्टि में नित्यप्रति जीव दुखों और प्रतिकूल रूपों का अनुभव करता है। अतः उससे जीव घृणा करता है और निरंतर उन दुखों से छुटकारा पाने के लिए उपाय ढूंढता फिरता है। वास्तविकता यह है कि अविद्या ने अनादि काल से आत्मा के स्वरूप को आच्छादित किया हुआ है, जिसके कारण आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाती और दर-दर भटकती फिरती है। इसी अज्ञानता को मिटाने के लिए धर्म तथा दर्शन प्रवृत्त होते हैं। अद्वैत दर्शन के अनुसार परब्रह्म की एकमात्र सत्ता होने के कारण कहीं किसी प्रकार का कोई भेद विद्यमान नहीं है। लेकिन जो भेद जीव को दिखाई देता है वह माया के कारण है। अविद्या से आच्छादित होने के कारण यह जगत अलग दिखाई देता है। उनके इसी सिद्धांत को मायावद की संज्ञा दी गई है। लेकिन शंकराचार्य को मायावादी कहना तर्कसंगत नहीं होगा। जीवनशंकर याज्ञिक के अनुसार उन्होंने माया का प्रतिपादन नहीं किया, बल्कि जिज्ञासु के दृश्यमान मिथ्या जगत के आग्रहपूर्वक पूछे जाने पर माया जो स्वयं मिथ्या है यह बता दिया जाता है।

आचार्य शंकर ने किसी निजी मत का प्रचार नहीं किया। उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मवाद ही उनका सिद्धान्त था। अपनी अद्भुत दार्शनिक प्रतिभा के द्वारा शंकराचार्य ने एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की है जो न पूर्णतः भौतिकवाद है न ही कर्मवाद है और न ही केवल ज्ञानवाद। आचार्य का यह सिद्धान्त वैदिक धर्म एवं दर्शन पर आधारित अद्वैतवाद का सिद्धान्त है। उनके अनुसार प्रकृति, जीव या जगत् ब्रह्म से पृथक नहीं हैं। ब्रह्म ही अनेक रूपों में प्रतिभासित हो रहा है। जीव अज्ञान के कारण बन्धन में पड़ा हुआ है। बन्धन से मुक्ति ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। जब ज्ञान के द्वारा वह अपने को देखेगा तो अनादि काल से खोये हुए इस रूप को स्वयं में ही पाकर वह आनन्दित हो जायेगा। इस स्वरुप के वर्णन के लिए शब्द -सामर्थ्य नहीं है। यह स्वरुप अनिर्वचनीय, अवांगमनसगोचर है। इसी खोयी हुयी आत्मा को देखने का उपदेश आचार्य ने दिया था तथा निर्दिष्ट किया कि दर्शन होने पर इसकी अनुभूति का वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता है तथा यह मन की कल्पना से भी परे है।

अद्वैत वेदांत में ब्रह्म

शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जिसके आधार पर समस्त अद्वैतवाद का विकास हुआ है। अतः आचार्य ने ब्रह्म को ही सत्य के रूप में स्वीकार किया है।' आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म नित्य, शुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। आत्मा ब्रह्म है, अतः ब्रह्म प्रत्येक मनुष्य के लिए सदा विद्यमान है और जीवन का सही सार्वभौम सत्य है। पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र तत्त्व है- ब्रह्म या आत्मा, जिसका स्वरूप है आनन्द – " सच्चिदानन्द ब्रह्मः आनन्दं ब्रह्मणो विद्यात्" । शंकर वेदान्त में ब्रह्म को छोड़कर सभी पदार्थ असत् हैं। इन पदार्थों का आरोप ब्रह्म पर होता है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी दिखाई देता है वह अतत्त्व है जिसे अवस्तु, अज्ञान, माया आदि भी कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म मूल सत्ता होने से सब पदार्थों को व्यक्त करता है किन्तु स्वयं व्यक्त होने के लिए किसी की अपेक्षा नहीं करता है।

आचार्य ने ब्रह्म के वास्तविक स्वरुप के निर्णय के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है (1) स्वरुप लक्षण तथा (2) तटस्थ लक्षण। स्वरुप लक्षण के द्वारा ब्रह्म या पदार्थ के सत्य तथा यथार्थ रूप का पता चलता है तथा तटस्थ लक्षण ब्रह्म में कुछ देर तक रहने वाले आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है। ब्रह्म का स्वरुप लक्षण है-सत्य, ज्ञान तथा अनन्तत्त्व। उसके तटस्थ लक्षण में जगत्कर्ता, जगत्पालक, जगत्संहारक आदि आते हैं जिनका जगत् से सम्बन्ध है और वास्तविक स्वरुप के द्योतक नहीं हैं। इसको लौकिक उदाहरण से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है -एक ब्राह्मण किसी नाटक में एक क्षत्रिय राजा की भूमिका अदा करता है तथा रंगमंच पर वह अवतीर्ण होता है।जहाँ वह शत्रुओं को मारकर अपनी विजय पताका फहराता है और अनेक प्रकार के मनोरंजन के द्वारा प्रजा को खुश करता। परन्तु उस ब्राह्मण को वास्तव में एक पराक्रमी राजा मानना उचित है? उसके सत्य स्वरुप के निर्णय के लिए उसे राजा बताना क्या सही है? वह राजा है परन्तु जब तक यह नाटक हो रहा है। नाटक के समाप्त होने पर वह अपने वास्तविक रुप में आ जाता है। उस ब्राह्मण को क्षत्रिय राजा मानना 'तटस्थ लक्षण' हुआ तथा उसे ब्राह्मण बतलाना 'स्वरुप लक्षण' है।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है । इन गुणों के समावेश का कारण उसका तटस्थ लक्षण है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" तथा "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"" ब्रह्म के स्वरुप लक्षण है। वह 'सत्, चित् और आनन्द' रुप है । यही ब्रह्म का स्वरुप लक्षण है।

पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है, उसके ऊपर जीव का या जगत् का कोई भी गुण आरोपित नहीं किया जा सकता है। शंकर के मत में यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से रहित है।

शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में अद्वैत वेदान्त की निम्नलिखित परिभाषा के द्वारा अभिव्यक्त किया है-"नाम रुप के द्वारा अव्यक्त अनेक कर्ताओं एवं श्रोताओं से संयुक्त ऐसे क्रिया और फल के साक्ष्य जिसके देश, काल और निमित्त व्यवस्थित हैं, मन से भी जिसकी रचना के स्वरुप का विचार नहीं हो सकता ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमय कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है।

शंकराचार्य ने ब्रह्म नामक जो सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की है उसकी सत्ता व्यवहारिक, दैशिक, कालिक एवं वैचारिक सत्ताओं से विलक्षण है। अतः शांकर दर्शन का प्रमुख साध्य ही ब्रह्मज्ञान है, जबकि पश्चिमी दार्शनिक काण्ट शुद्धवस्तु (Thing in itself) का बोध असम्भव मानता था। अतः शांकर वेदांत में बह्म की सर्वोच्चता स्वीकार कर उसे ही प्राप्त करना मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

आत्मा

शंकराचार्य ने बह्म और आत्मा का ऐक्य स्वीकार करते हुए कहा है कि आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता है। निराकरण होता है आगन्तुक लक्षण का स्वभाव का नहीं। इतने बड़े संसार में भूत, वर्तमान तथा भविष्य में होने वाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्मा से पृथक रह सके या आत्मा से भिन्न हो। सच तो यह है कि कई रूपों में जगत् के पदार्थ भले ही दृष्टिगोचर हों परन्तु भीतर से चैतन्य रुप में एक ही आत्मा हैं। इसलिए आत्मा ही एक सर्वव्यापी तत्त्व है। आत्मा की मूल उत्पत्ति के अर्थ को समझते हुए स्वयं आचार्य ने ऐतरेयोपनिषद् में लिखा- "व्याप्तिबोधक"। संसार की सृष्टि से पूर्व सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ आदि सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों से रहित नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, अजन्मा, अमर, अजर, अमृत, अभय और अद्वय रूप आत्मा ही था। अतः आत्मा के अस्तित्त्व के विषय में शंका करने की जरा भी गुंजाइश नहीं है।

शंकर के मत में जगत में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो आत्मा से व्याप्त न हो। वह बाहर भीतर, अजन्मा, कारणरहित, कार्यरहित, अन्तर्बाह्यशून्य, परिपूर्ण, आकाश के समान सब जगह जाने वाला, सूक्ष्म, अचल, निर्गुण, निष्फल और निष्क्रिय है। अतः शंकर के अनुसार इस विश्व मे एक ही सत्ता दृष्टिगोचर हो रही है। वह अखण्ड है। उसका खण्ड नहीं किया जा सकता है। वही आत्मा है, वही ब्रह्म है। 2 आत्मा तथा बह्म दोनों में सत् के सब लक्षण जैसे चैतन्य, सर्वव्यापकता और आनन्द एक समान पाये जाते हैं। आत्मा उपाधि रहित है । सारा जगत् उसी से आत्मवान है वही परमार्थ सत् है। इस प्रकार शांकर वेदांत में स्वयं आत्मा ही को ब्रह्म स्वीकार किया जाता है। आत्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं। वह स्वतः प्रकाश अनन्त चैतन्य स्वरुप है। अनन्त आत्मा ही है जो जीवात्मा की तरह सीमित प्रतीत होता है, उसका कारण है अविद्या से उत्पन्न शरीर के साथ सम्बन्ध । अतः उपाधिशून्य आत्मा के अनिवर्चनीय, निर्विरोध और एक होने के कारण ही उसको नेति नेति कहकर सम्बोधित किया जाता है।

जगत्

जगत् के कार्यों में नया रुप नया आकार उत्पन्न होता है। इस प्रत्यक्ष को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता है परन्तु सूक्ष्म विचार करने से यही प्रतीत होता है कि आकार कोई नयी चीज नहीं है जो पदार्थ से अलग हो। आकार वस्तुतः द्रव्य की ही एक अवस्था मात्र है और द्रव्य से वह भिन्न नहीं है। आचार्य शंकर की दार्शनिक मीमांसा का आधारभूत पक्ष जगत् मिथ्यात्व का सिद्धांत है।

आचार्य शंकर के जगत् मिथ्यात्व सिद्धांत पर विचार करते समय उनकी सत्य की परिभाषा आलोचनीय है। उनके अनुसार जिस रुप में जो पदार्थ निश्चित होता है यदि वह रूप सतत् समभाव से विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं। 20 इस परिभाषा के अनुसार जगत् कभी भी सत्य नहीं हो सकता है। वह प्रतिक्षण रूप बदलता सतत् चंचल है, नित्य परिवर्तनशील है । अतः यदि कोई सत्य वस्तु हो सकती है तो वह केवलमात्र ब्रह्म ही है जो तीनों काल में सच्चिदानन्द रुप में विद्यमान रहता है।

अद्वैत वेदान्त में 'जगतमिथ्या' की व्याख्या एक अन्य प्रकार से भी की जाती है। उनके अनुसार जगत् न सत् है न असत् है प्रत्युत्तर दोनों में ही विद्यमान है। अतः इसे अनिवर्चनीय कहते हैं तथा मिथ्या भी कहते हैं। विवेचन से यह स्पष्ट है कि जगत् का उदय ब्रह्म से है। वही असका उपादान कारण है और जगत् उसका कार्य है किन्तु अद्वैत वेदान्त में न्याय, वैशेषिक और मीमांसा आदि के आरम्भवाद तथा सांख्य योग आदि के परिणामवाद को स्वीकार न करके कार्य-कारण की अभिन्नता मान्य है।

माया

शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्द का प्रयोग समानार्थक रुप से किया है। परन्तु बाद के दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थ-भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम माया है। इस अविद्या तथा अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं- 'आवरण' और 'विक्षेप'। 'आवरण' शक्ति से युक्त अज्ञान 'अतितुच्छ' तथा 'परिच्छिन्न' अर्थात् सीमित होने पर भी अपरिच्छिन्न, अलौकिक, स्वप्रकाश एवं सर्वव्यापी आत्मा को आच्छादित करता है, जिससे आत्मा बुद्धि की तरह हो जाती है। वस्तुतः यह आत्मा को आच्छादित नहीं करती किन्तु साधक की बुद्धि को इस प्रकार आच्छादित कर देती हैं कि, साधक आत्मा को नहीं देख पाता, जिस तरह एक छोटा सा मेघ का टुकड़ा लोगों की दृष्टि के सामने आकर अनेक योजनविस्तृत सूर्यमण्डल को घेर कर देखने वाले को देखने नहीं देता।

ईश्वर

माया की उपाधि से उपहित सत्, चित् आनन्द स्वरुप परं तत्त्व ही ईश्वर है। 'माया' रुपी उपाधि से उपहित होने के कारण इसको 'मायोपहित' ब्रह्म कहा जाता है। यह सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म तथा कार्य ब्रह्म आदि नामों से प्रसिद्ध है। इसको महाविष्णु, महाशक्ति तथा परमात्मा नाम से भी व्यक्त किया जाता है। ईश्वर ही नाम-रुप का व्ययकर्ता है तथा नाम रूपों को धारण करता है। प्रलय काल में नामरुपमय जगत् ईश्वर में ही समाहित हो जाता है।

ईश्वर समस्त संसार के सृजन रुपी कार्य का निमित्त कारण भी है और उपादन कारण भी। यह अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी चितत्त्व है। माया का अधिष्ठान होता हुआ भी यह माया से निर्लिप्त रहता है। यद्यपि ईश्वर की माया ही सांसारिक बन्धनों की जननी है, परन्तु ईश्वर में मायोपाधि के भेद से होने वाला सांसारिक बन्धन तथा उसके कार्यों का सर्वथा अभाव है। यह माया के मोहपाश से मुक्त है।

मोक्ष

मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरुप की अनुभूति है । आत्मा या ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्दस्वरुप है। आत्मा ज्ञान स्वरुप है और मोक्ष आत्मा का स्वरुप ज्ञान है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म और मोक्ष एक ही है। जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है (ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति)। इस श्रुतिवाक्य के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म-भाव एक है। जब आत्मज्ञान द्वारा अविद्या निवृत्त हो जाती है तो जीव नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है।

अविद्या-निवृत्ति और ब्रह्मभाव या मोक्ष में कार्यान्तर नहीं है। आत्म-ज्ञान मोक्ष को फल या कार्य के रुप में उत्पन्न नहीं करता । मोक्ष-प्रतिबन्धरुप अविद्या की निवृत्तिमात्र ही आत्म-ज्ञान का फल है । ज्ञान वस्तुतंत्र और प्रकाशक या ज्ञापक होता है, कारक नहीं, क्योंकि ज्ञान क्रिया नहीं है । अतः ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति मात्र है जो ज्ञान के प्रकाश से स्वतः हो जाती है, जैसे प्रकाश से अंधकार की निवृत्ति होती है। मोक्ष नित्य सच्चिदानन्दस्वरुप आत्मा या ब्राह्म की अपरोक्षानुभूति है । मोक्ष या ब्रह्म हेय और उपादेयरहित है; मोक्ष में न कुछ खोना है न पाना है- 'हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमात्' । आचार्य ने मोक्ष का अत्यंत सुन्दर निरुपण इस प्रकार किया है:-

"इदं तु पारमार्थिक, कूटस्थनित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिः स्वभावम्, यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च, नोपावर्तेते, तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्।"

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जगतगुरु शंकराचार्य भारतीय दर्शन के सम्राट हैं और अद्वैत वेदांत उनकी अमर कीर्ति पताका । उनके संबंध में उनके ग्रन्थों के विषय में अध्ययन करने की जनरुचि व प्रवृत्ति हमेशा से विद्यमान रही है। प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानों ने शंकराचार्य तथा उनके सिद्धांतों का अध्ययन अवलोकन और विलोचन किया है। आचार्य शंकर अपने सिद्धांतों के कारण विद्वानों में अत्यधिक लोकप्रिय रहे हैं उनके

अद्वैत दर्शन में समस्त दार्शनिक तत्व विद्यमान है।

REFERENCES

1. उपाध्याय, बलदेव – भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1971
2. करपात्री, स्वामी – विचार पीयूष, श्री सनतशरण वेदान्ती, अ०भा० रामराज्य परिषद, वाराणसी, 1975
3. चट्टोपाध्याय, सतीश चन्द्र एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त – भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना।
4. देवराज, नन्दकिशोर - भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1950
5. पाण्डेय, संगम लाल - भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद प्रकाशन, 1976
6. भावे, विनोबा - उपनिषदों का अध्ययन, सस्ता साहित्य मण्डल, 1961
7. मिश्र, उमेश - भारतीय दर्शन हिन्दी समिति सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1964
8. राधाकृष्णन, प्राच्य धर्म एवं पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1970
9. राधाकृष्णन, - भारतीय दर्शन भाग-2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1970